

किसान विद्रोह
आन्दोलन और दिशा
किशन पटनायक

प्रकाशक

समता संगठन
पूर्वी लोहानीपुर
पटना – 800003

दो शब्द

3 जनवरी 1981 को तमिलनाडु के इरोड में समता संगठन की समन्वय-समिति के सदस्यों के साथ तमिलनाडु कृषक संघ के कुछ प्रतिनिधियों की चर्चा हुई थी उस बैठक में किशन पटनायक ने जो भाषण किया था और कुछ प्रश्नों के उत्तर दिये थे, उसे हम पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। अंगरेजी भाषण का हिन्दी में नोट लिया गया था।

किसान-आंदोलन को समझने और आगे की दिशा बनाने के लिए यह एक सहायक पुस्तिका होगी, किसान-आन्दोलन और उसकी समस्याओं के बारे में जानकारी तथा बहस को आगे बढ़ाने के लिए हम आगे कुछ और पुस्तिकाएं छापेंगे।

— शिवानन्द तिवारी

किसान विद्रोह

आन्दोलन और दिशा

हिन्दुस्तान में वापमंथियों खासकर समाजवादियों ने आजादी के बाद किसानों को एक गरीब तबके के रूप में संगठित करने का प्रयास किया। लोहिया ने किसानों की समस्याओं के बारे में एक लम्बा लेख भी लिखा था जिसमें उन्होंने इनके हल के लिए एक नयी दृष्टि अपनाने और विकेन्द्रित व्यवस्था की बातें कहीं थीं। कम्युनिस्टों का किसानों की समस्याओं के बारे में रुख अन्तर्विरोधों से भरा था। वे किसानों को 'निम्न बुरजुवा' (पेटी बुरजुवा) मानते हैं। स्टालिन ने रूस में सरकारी खेती चलाने के लिए बड़ें पैमाने पर किसानों की हत्या भी करवायी। दूसरी ओर कम्युनिस्टों ने यह भी महसूस किया कि एक ताकत के तौर पर इस तबके को अनदेखा भी नहीं किया जा सकता। लोहिया का कहना था कि औद्योगिक मजदूर अब सही माने में सर्वहारा नहीं रह गया है, भारत—जैसे देश में तो गरीब किसान और भूमिहीन किसान ही सही अर्थों में क्रांतिकारी हो सकते हैं। लेकिन कम्युनिस्ट और समाजवादी, दोनों में से कोई भी, देश में असरदार किसान आंदोलन नहीं चला पाया। कम्युनिस्टों में दृष्टि—दोष था और समाजवादी कभी भी अच्छे संगठनकर्ता नहीं रहे। कम्युनिस्टों ने औद्योगिक मजदूरों का अच्छा संगठन खड़ा किया लेकिन समाजवादी न तो मजदूर—संगठन खड़ा कर पाये और न ही किसान—संगठन। इस समय कम्युनिस्टों और समाजवादियों में से किसी का भी देश में किसानों का संगठन नहीं है। लेकिन इस बीच किसानों के स्वतःस्फूर्त आंदोलन खड़े हो गये हैं। इन आंदोलनों के जरिए किसानों की जिन परेशानियों और तकलीफों को जाहिर किया जा रहा है उन सबका जिक्र लोहिया के उस लेख में है।

लेकिन समाजवादियों और कम्युनिस्टों के अलावा धनी और सामंती किसानों के एक प्रभावशाली तबके ने किसानों की ओर से राजनीति करने का हमेशा प्रयास किया है। इनका स्वार्थ साधारण किसानों की समस्याओं को उठाने में नहीं था। ये चाहते थे कि भूमि—समस्या का कोई प्रगतिशील हल न निकले, हदबंदी और बटाईदारी जैसे कानून

लागू न हों ताकि उनके स्वार्थ की रक्षा हो सके। इसलिए अलग-अलग पारटियों में इनकी मजबूत लाबी (दबाव डालनेवाला प्रभावकारी समूह) रही। लेकिन गरीब किसानों की न तो कोई लाबी ही रही और न ही वे संगठित हो पाये। समाजवादियों और कम्युनिस्टों ने कहीं-कहीं बटाईदारों को संगठित किया जबकि स्वतंत्र तथा कांग्रेस आदि पारटियों ने सामंती और पूंजीवादी किसानों को संगठित किया। साधारण किसानों का बड़ा तबका असंगठित रहा। पिछले वर्षों में औद्योगिक मजदूरों, मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय सरकारी कर्मचारियों ने अपनी मांगों को रखने के लिए अपने-अपने मजबूत संगठन बना लिये हैं। इन संगठनों की ताकत से बीच-बीच में वे वेतन, भत्ता, सुविधाएं आदि बढ़वाते रहे हैं। कई राज्यों में भूमिहीन मजदूरों और बटाईदारों का भी अच्छा-खासा संगठित आंदोलन चला है लेकिन साधारण किसानों की मांगें संगठित रूप से कभी नहीं उठायी गयीं क्योंकि संगठित राजनीति ने – चाहे शासक पार्टी हो या विरोधी दल – कभी भी देश के इस विशाल तबकि की समस्याओं को नहीं देखा। इसलिए इतने समय तक दबे रहने के बाद इनका विरोध स्वतः फूट पड़ा है। तमिलनाडु, कर्नाटक और महाराष्ट्र आदि से इनका असरदार विरोध दर्ज होने लगा है। तमिलनाडु ने किसानों पर कर्ज के बोझ के सवाल को उठाया, कर्नाटक ने नाजायज और अत्यधिक टैक्स के मामले को उठाया और महाराष्ट्र ने खेत में पैदा जिनसों के दाम के सवाल को उठाया।

अभी तक ये आन्दोलन असंगठित, गैरराजनीतिक और स्वतःस्फूर्त हैं। जब ये आंदोलन ठीक से संगठित हो जाएंगे और व्यवस्थित ढंग से इनकी मांगे सामने आएंगी तो तीनों राज्यों की अलग-अलग मांगें एकत्रित हो जाएंगी तथा उनमें और मांगे भी जुड़ जाएंगी। सवाल यह है कि इन आंदोलनों को कैसे देशव्यापी और संगठित बनाया जाए तथा इनकी राजनीतिक दिशा हो।

वैचारिक पक्ष:

इसके वैचारिक पक्ष को देखें। पश्चिमी देशों की आर्थिक नीति इस धारणा पर आधारित है कि मुख्य आर्थिक कार्य-कलाप औद्योगिक क्षेत्र में होगा, आवादी का बड़ा हिस्सा

इसी क्षेत्र में लगेगा। इन देशों में खेती गौण कार्य—कलाप है, बहुत थोड़े लोग इस क्षेत्र में लगे हैं। इनमें खेती व्यापार की प्रणाली पर चलती है जिसमें घाटा लगने पर सरकार पूरा करती है। ब्रिटेन—जैसे देश इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उनके यहां जरूरत—भर अनाज की पैदावार होती है या नहीं। उनके पास इतना औद्योगिक धन है कि वे बाहर से अनाज खरीद सकते हैं। ये देश हमारे देश के नेताओं को यह सिखाते हैं कि वे उनकी अर्थ—व्यवस्था की नकल करें।

यह एक विडम्बना ही है कि भारत ने गांधी को नहीं सुना और चीन अब माओं को नहीं सुन रहा है (चीन के नये नेता आधुनिकीकरण के नाम पर पश्चिमी अर्थ—व्यवस्था की नकल करने लगे हैं)। भारत के किसान जब विद्रोह कर रहे हैं तो वे गांधी को समझ सकते हैं। सामान्य अवस्था में वे भी गांधी को नहीं समझते। गांधी की चेतावनी थी कि पश्चिमी अर्थ—व्यवस्था की नकल करने से हमारे देश में खेती—प्रधान अर्थ—व्यवस्था को उद्योग—प्रधान अर्थ—व्यवस्था में बदला नहीं जा सकता, नकल सिर्फ नुकसाल कर सकती है। गांधी शहर और कारखाने के दुश्मन नहीं थे, वे चाहते थे कि योजना का केन्द्र गांव बने। उसके सहारे के लिए अनुपात से शहर और कारखाने भी रहें।

किसान और व्यापारी:

भारत के किसानों और व्यापारियों की अलग—अलग आर्थिक संस्कृतियां हैं। उनका सामाजिक दृष्टिकोण और आर्थिक तौर—तरीके अलग—अलग हैं। जैसे, व्यापारी और उद्योगपति एकाधिकारवादी ढंग से अपनी खरी—विक्री को संगठित करने में लगे रहते हैं। उनमें यह भावना रहती है कि दूसरा कोई न पनपे और खरीदार उनकी मरजी पर ही रहें। वे इस तरह संगठित हैं कि अपने उत्पादन का दाम खुद तय कर सकें। वे यह नहीं देखते कि खरीदार की हालत क्या है। उन्हें केवल इस बात की चिन्ता रहती है कि अधिक—से—अधिक मुनाफा कैसे हो। दूसरी ओर किसान अपने उत्पादन का मूल्य खुद नहीं तय करता, मूल्य दूसरे लोग तय करते हैं। खरीदार की शक्ति और उसकी मर्जी के आधार पर खेती के उत्पादन का मूल्य तय होता है।

उद्योगपति और किसान, दोनों के लिए व्यापार जरूरी है। उद्योगपति व्यापारियों को कसते रहते हैं इसलिए व्यापारी उद्योगपति के मुकाबले बहुत कम मुनाफा बनाता है लेकिन किसानों का उत्पादन बेचकर वह किसानों से ज्यादा धनी बन जाता है क्योंकि किसानों का कोई नियंत्रण उसपर नहीं है। यह बात केवल अनाज के मामले में ही नहीं है, कुछ प्रकार की व्यापारिक फसलों और वन-उत्पादन पर भी लागू होती है। उन-उत्पादन को व्यापारी मुफ्तिया (यानी बहुत कम दामों पर) तौर पर ले जाते हैं और बहुत ही चढ़े दामों पर शहरों में बेचते हैं, जैसे-चिरौंजी, अंजीर, बीड़ी-पत्ता आदि। औद्योगिक उत्पादन में मुनाफा ही मूल उद्देश्य और प्रेरणा है जबकि खेती में समाज के हित का भी ध्यान रहता है। इसलिए हमें उन कठिनाईयों और बाधाओं को समझना होगा जिनका किसानों को सामना करना पड़ता है। हमलोग यह जानते हैं कि थोक मूल्य खुदरा मूल्य ये सस्ता होता है यानी जब उत्पादक खुद बेचता है तो दाम कम रहता है। लेकिन औद्योगिक उत्पादकों को इसमें भी काफी कमाई होती है क्योंकि एक तो उनका उत्पादन बड़ी मात्रा में होता है, दूसरे थोक मूल्य वे खुद तय करते हैं। लेकिन औसत किसान का उत्पादन कम मात्रा में होता है और फिर दूसरी ओर उसे अपनी जरूरत के दिनों में उसी उत्पादन को खुदरा व्यापारी से महंगे दाम पर खरीदना पड़ता है। अपने उत्पादन को सस्ते में बेच देने के बाद जब किसान करखनिया माल खरीदने जाता है- पहनने का कपड़ा हो या खाद-जैसा उत्पादन का साधन- तो उसे वह सर्वोच्च कीमत पर खरीदना पड़ता है, क्योंकि करखनिया माल का दाम कारखाने से बड़े शहर को; बड़े शहर से छोटे शहर को और वहां से देहाती बाजार तक आते-आते चार वार चढ़ जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बेचदार के रूप में किसान को बहुत कम दाम मिलता है जबकि खरीदार के रूप में उसे सबसे ज्यादा दाम देना पड़ता है। इन समस्याओं का हल योजना होगा- जब किसान अपना माल बेचे तो उसे सही दाम मिले, इसी तरह जब वह खरीदे तो उसे सस्ता मिले।

किसान उत्पादक के रूप में :

अब आइए किसान को एक उत्पादक के रूप में देखें। जब एक उद्योगपति कुछ उत्पादन शुरू करता है तो वह यह असर डालने की कोशिश करता है कि सरकार और समाज को उसके उत्पादन की बहुत जरूरत है, इसलिए इतनी बड़ी देश-सेवा के लिए उसे सब तरफ से मदद मिलनी चाहिए। सरकार उसकी मदद को आती है और उसके उत्पादन में हर तरह का सहयोग देती है। आजादी के बाद नेहरू ने बिड़ला को बुलाया और अलुमीनियम का एक कारखाना खेलने को कहा क्योंकि देश को अलुमीनियम की बहुत जरूरत है, आप कारखाना खोलिए, आपको हर तरह की सहायता मिलेगी इस तरह बिड़ला को मुफ्तिया दर पर जमीन, बिजली और कर्ज दिया गया। आज वह कारखाना बिड़ला का सबसे ज्यादा मुनाफा कमाने-वाला कारखाना है। यह कोई विशेष बात नहीं है, आम बात है। कारखानेदार को अपनी पूंजी भी नहीं लगानी पड़ती, वह महज 15, 20 प्रतिशत पूंजी ही लगाता है बाकी बैंक और शेयर से आता है। शुरू में सरकार उससे टैक्स नहीं लेती, बिजली उसे सस्ते में देती है। जब कारखानेदार हल्ला करता है कि वह कष्ट में है, घाटा हो रहा है तो सरकार दौड़कर उनकी मदद करने जाती है। कारखानेदारों और उद्योगपतियों के यहां करोड़ों रूपये टैक्स का बकाया है लेकिन उनपर कोई काररवाई नहीं होती है। इस तरह टैक्स के मामले में, कर्ज के मामले में और अन्य मामलों में सरकार उनकी बड़ी मददगार है। यही नहीं, किसी औद्योगिक इलाके में सड़क, डाकघर और स्कूल आदि नहीं हैं तो सरकार तुरत इन सबका इंतजाम करती है। खेती के बारे में सरकार की नीति उलटी है। सूखा या बाढ़ में फसल मारी भी जाए तो किसानों को कोई रियासत नहीं मिलती—टैक्स में छूट नहीं मिलती, कर्ज में माफी नहीं मिलती। साधनों का भी यही हाल है। तीन-चौथाई खेती में सिंचाई का इंतजाम नहीं है जो खेती की प्राथमिक जरूरत है। टैक्स के मामले में भी खेती में सरकार की नीति अन्यायपूर्ण है।

किसान मजदूर के रूप में :

अब आइए किसान को एक मजदूर के रूप में देखें। उद्योग और सरकारी दफ्तरों में निम्नतम मजदूरी, वेतन, मंहगाई— भत्ता आदि निश्चित है लेकिन किसानों को इस प्रकार की कोई सुविधा नहीं है। यह सही है कि एक तबके के रूप में भूमिहीन मजदूरों की हालत सबसे ज्यादा खराब है। लेकिन संगठित होने पर वे अपने लिए बनाये गये कानूनों का फायदा उठा सकते हैं। किसानों के लिए ऐसा कोई कानून नहीं है। इस तरह न तो उत्पादक के रूप में किसान को कोई मुनाफा मिलता है और न ही मजदूर के रूप में उसका कोई मेहनताना तय है। खरीदार के रूप में भी उसे किसी भी प्रकार की छूट नहीं है। उद्योग के मुनाफे में कई चीजों को ध्यान में रखा जाता है, जैसे पूंजी का सूद, मजदूरी, टैक्स, मशीनों की घिसाई, प्रबंध का खर्च आदि सबको उत्पादन के खर्च में जोड़ जाता है। उत्पादन—खर्च पर मालिक और साहब के बंगले, फोन, हवाई जहाज का किराया, तरह—तरह के भोजों और उत्सवों का खर्च भी जोड़ा जाता है। यही नहीं, बड़े—बड़े उद्योगों में शोध और पूजा—पाठ के नाम पर भी करोड़ों रूपयों की छूट है। लेकिन इतने सब—कुछ के बाद भी उद्योगपति संतुष्ट नहीं होते हैं इसलिए उत्पादन के बाद वे माल का नकली अभाव कराकर उसे काला बाजार में अधिक मुनाफे पर बिकवाते हैं।। अगर यह सब किसानों के उत्पादन के मामले में होने लगे तो चावल और गेहूँ 15—20 रु० किलों बिके। दाम बढ़ाने और खरीदार को चूसने में किसान उद्योगपतियों से होड़ कर सकता। यह तरीका किसान की संस्कृति के खिलाफ भी है। वह ऐसा नहीं कर सकता। किसान को तो तय दाम भी नहीं मिलता। साधारण किसान में अपने उत्पादन को संग्रह करके रखने की क्षमता नहीं होती, अपने उत्पादन को उसे तुरंत बेचना पड़ता है। दूर—दराज के किसानों को तो सरकार द्वारा तय दाम भी अपने यहां नहीं मिलता। वे कसबों में जाकर सरकारी खरीदार का इंतजार नहीं कर सकते। इसलिए दो तरीके अख्तियार करने होंगे। चूंकि बेचदार के रूप में किसान कमजोर है, उसके लिए न्यूनतम दाम तय करना होगा और करखनिया माल पर अधिकतम दाम की सीमा लगानी होगी। खेती में लगनेवाले सारे खर्च और किसान की मेहनत व प्रबंध के

मूल्यांकन के आधार पर ही खेती के उत्पादन का दाम तय करना होगा। उसे उचित दाम मिले, इसके लिए उसकी पहुंच के भीतर हर जगह गोदाम बनाना होगा, जहां उसके माल को खरीदने की हमेशा व्यवस्था रहे। ये गोदाम विशुद्ध रूप से सरकारी न हों। किसानों को सहकारी संगठनों के दायरे में लाना होगा और सरकार को इन गोदामों को बनाने के लिए पूंजी लगानी होगी।

दाम-नीति, कर-नीति:

करखनिया माल के उत्पादन की लागत की जांच करनी होगी। बीच-बीच में आम जरूरत की चीजों की लागत की घोषणा करनी होगी। आम जरूरत की चीजों का दाम लागत के ड्योढ़े से ज्यादा नहीं होना चाहिए। अगर दाम का यह आधार होगा तो चीनी का दाम दो रूपये किलों से ज्यादा नहीं पड़ेगा। अभी तक खेती के ही कुछ उत्पादन का दाम तय करने के लिए सरकार ने आयोग बनाया है, जिसका नाम 'कृषि-मूल्य-आयोग' है। यह नाकाफी है। खेती और करखनिया, सब प्रकार की साधारण जरूरत की चीजों का दाम तय करने के लिए एक मजबूत आयोग बनाना होगा। किसानों को भी यह समझना चाहिए कि उनके उत्पादन का दाम यह होना ही काफी नहीं है बल्कि करखनिया उत्पादन का दाम भी तय होना चाहिए। बेंचदार और खरीदार के रूप में किसानों के प्रति यह दृष्टिकोण हो तथा फसल आदि की बीमा आदि की भी सुविधा उसे मिलनी चाहिए। उत्पादक के रूप में किसान को एक और महत्वपूर्ण मांग उठानी होगी— वह मांग है सिंचाई की। पूरे देश में एक-चौथाई खेतों में ही सिंचाई का इंतजाम है। आधे से अधिक किसानों की हालत दयनीय है। वे प्रकृति पर इतने निर्भर रहते हैं कि हर तीन साल में एक बाढ़ या सूखे या पाले से फसल मारी जाती है और बीच का दाम भी नहीं लौटता। सारे देश के किसानों की ओर से एक जोरदार मांग होनी चाहिए कि एक निश्चित अवधि में — सात साल या दस साल—हर खेत में पानी का इंतजाम हो जाना चाहिए। सिंचाई सरकारी होनी चाहिए। निजी सिंचाई को प्रोत्साहित न किया जाए। सड़क और बिजली की तरह सिंचाई का इंतजाम भी सरकारी हो। ऐसा न होने पर साधन वाले किसान अपने लिए सिंचाई का इंतजाम

कर लेते हैं लेकिन वाकी किसानों की हालत वैसी की वैसी रहती है। ऐसे में किसानों के बीच आर्थिक गैरबराबरी बढ़ती जाती है। तथाकथित हरित क्रान्ति में यही हुआ। जहां-कहीं सरकार की ओर से सिंचाई का इंतजाम हो वहां शुरू के तीन-चार साल तक सिंचाई का टैक्स नहीं लगना चाहिए क्योंकि यह समय किसानों को नया इंतजाम करने तथा खेती के नये तरीके सीखने में लग जाता है। इसलिए खेती के समग्र विकास के लिए सरकार को टैक्स-नीति, कर्ज-नीति और ग्रामीण विकास-नीति में आमूल बदलाव लाना होगा। कानून के स्तर पर, नीति के स्तर पर और बजट के स्तर पर, इन सभी स्तरों पर व्यापक परिवर्तन जरूरी होंगे।

खेती में इन सारी नयी नीतियों को लागू करने पर क्या नतीजा होगा, इसकी कल्पना करें। पहला नतीजा तो यही होगा कि शुरू के दस वर्षों में कृषि-क्षेत्र के लिए बहुत बड़ी पूंजी की जरूरत होगी और इसके लिए सरकार को दूसरे खर्च काटने होंगे तो यह एक महत्वपूर्ण सवाल है कि खर्च कहां से काटा जाए ताकि खेती में इतने भारी पैमाने पर पूंजी लगे और किसानों की हालत सुधरे। हमें यह सूची बनानी होगी कि अभी हम किन-किन उत्पादनों में पूंजी लगा रहे हैं और क्या-क्या इस्तेमाल कर रहे हैं। हमें इस सूची को दो हिस्सों में बनाना होगा। देखना होगा कि कौन-कौन-सी ऐसी चीजें हैं जिनके उत्पादन में अभी पूंजी लगायी जा रही है लेकिन जो समाज के लिए जरूरी नहीं है। ऐसी चीजों के उत्पादन पर रोक लगानी होगी। उदाहरण के लिए, बाजार में अभी खाना बनता और बिकता है। दो रुपये की थाली बिकती है और सौ रुपये की भी। बड़े शहरों के पांच तारा होटलों में सौ रुपये से भी ज्यादा की थाली बिकती है। ऐसे में यह नियम बनाना होगा कि पांच रुपये से ज्यादा की थाली कहीं नहीं बिकेगी। इसका मतलब बड़े होटल बंद करने होंगे। इसी तरह टेलीविजन, शीतताप-यंत्र, मोटर-गाड़ी तथा ऐयाशी की अन्य चीजों का उत्पादन रोक देना होगा। जो चीजें बनेंगी उनका दाम तय होगा।

गांव-केन्द्रित अर्थनीति :

ऐसा होने पर लाखों-करोड़ों के मुनाफे के अभ्यस्त पूंजीपति कारखाने नहीं चलाना चाहेंगे। अगर वे कारखाने बंद कर देंगे तो देश का नुकसान नहीं होगा बल्कि फायदा ही होगा। औद्योगिक माल दो तरह का होता है। एक तरह का माल सिर्फ बड़े कारखानों में ही तैयार हो सकता है, दूसरी तरह का माल बड़े, मध्यम और छोटे कारखानों में भी तैयार हो सकता है। आश्चर्य होगा कि शहर का आदमी सुबह-सुबह ब्लेड, साबुन, टूथ-पेस्ट, ब्रश आदि का जो इस्तेमाल करता है, वह सब विदेश की कम्पनियों में बनता है। जूता, दियासलाई, डिब्बे का दूध, चार्ट-बैटरी यह सब भी विदेशी कम्पनियों का होत है। अगर इन चीजों का उत्पादन बड़े कारखानों द्वारा बंद कर दिया जाए तो इन्हें ग्रामीण क्षेत्रों में भी बनाया जा सकता है। हर जिले और हर प्रखण्ड में इस तरह की चीजों को बनाने का कारखाना बन सकता है। अगर कोई यह सोचता है कि बाटा की तरह का जूता हमारे कारीगर नहीं बना सकते तो यह गलतफहमी में है क्योंकि बाटा कम्पनी अपने अधिकांश जूते कारीगरों से खरीदती है और उन पर अपना लेबल लगाकर कई गुना ज्यादा दाम पर बेचती है। अगर हमारे गांवों के कारीगरों को कर्ज और दूसरी सुविधाएं मिलें तो वे भी बाटा की तरह का जूता बना सकते हैं। इसलिए हर जिले में एक जूता का कारखाना या जूते के कई कारखाने होंगे या हर जिले में एक जूता का कारखाना या जूते के कई कारखाने होंगे या हर जिले में साबुन, दियासलाई, कपड़े आदि के एक या कई कारखाने होंगे बजाय इसके कि देश में इनके मुट्ठी-भर कारखाने हों।

अब फिर कल्पना करें कि ऐसा करने पर क्या-क्या हो सकता है। हर जगह किसानों के लिए खरीद-बिक्री की सहकारी संस्थाएं होंगी। हर प्रखण्ड जिले में साबुन, जूते, दियासलाई आदि के कारखाने होंगे। इस तरह इस प्रक्रिया के द्वारा देश की बेरोजगारी की समस्या का हल हो सकता है। हर जिले-प्रखण्ड में कारखाने खुलने लगेंगे तो हर इलाके में तकनीकी प्रशिक्षण के स्कूल खोलने की जरूरत होगी। ऐसी स्थिति में मैट्रिक पास करने के बाद लड़के या लड़कियां इन कारखानों के साथ जुड़कर काम सीख

सकेगे और बाद में यही उनका रोजगार हो जा सकता है। पढ़ाई के साथ-साथ वे काम भी कर सकेंगे। आज की पढ़ाई में शिक्षा अलग है और रोजगार अलग। लेकिन बदली व्यवस्था में इसका उलटा होगा। आज की व्यवस्था में सब कुछ केन्द्रित है, पढ़ाई, खारखाना सब। इसलिए प्रशासन भी केन्द्रित है। आज मद्रास, पटना, लखनऊ या दिल्ली की सरकार ज्यादा ताकतवर है क्योंकि सब-कुछ इन्हीं जगहों में केन्द्रित है। बदली हुई व्यवस्था में सारी गतिविधियां पंचायत, प्रखंड और जिला स्तर पर होंगी इसलिए पंचायत, प्रखंड और जिले को मजबूत बनाना होगा।

आज की अर्थ-व्यवस्था का केन्द्र शहरी उद्योग है इसीलिए सब कुछ शहर-केन्द्रित है। यदि खेती मुख्य आर्थिक कार्य-कलाप हो जाए तो सारी व्यवस्था को विकेन्द्रित करनेवाले, गांव और पंचायत को मजबूत करनेवाले प्रशासन की व्यवस्था करनी होगी।

आज की लगभग सभी राजनीतिक पार्टियां तो पूंजीपतियों या महाशक्तियों के स्वार्थ की रक्षक बन गयी हैं। अमरीका और रूस भी चाहते हैं कि भारत -जैसे मुल्क में केन्द्रित राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था रहे ताकि वे अपने स्वार्थ की सिद्धि आसानी से कर सकें। इसलिए अगर किसान-आंदोलन लम्बे समय तक चलेगा तो उसे न सिर्फ पूंजीपतियों और शहरों से लड़ना होगा बल्कि उसे दुनिया की महाशक्तियों की चुनौती का भी मुकाबला करना होगा।

भूमिहीन किसान बनाम जमींदार :

किसानों को एक और समस्या की तरफ भी ध्यान देना होगा। देश के किसान कई वर्गों में बंटे हैं। सबसे ऊपर ऐसे किसान हैं जो धनी हैं। इनको सामंती भूमि-व्यवस्था से हजारों एकड़ जमीन मिली है। इसी तरह नये प्रकार के पूंजीवादी किसान हैं जिनके पास उतनी जमीन नहीं है लेकिन ये लोग ऐसी चीजों का उत्पादन करते हैं जिनकी सामाजिक जरूरत नहीं है, जैसे गुलाब, निर्यात के लिए खुशबूदार चावल, आदि इनका अच्छा दाम मिल जाता है। ऐसे 'किसान' सरकार से सहायता भी लेते हैं, बड़े शहरों में रहते हैं और साल में दो-तीन महीने के लिए फार्म (खेती) पर जाते हैं। ये पूंजीवादी किसान हैं। दूसरी ओर सबसे नीचे भूमिहीन मजदूर हैं। उनको सिर्फ मजदूर कहना

ठीक नहीं है। ऐसे खेती में सब काम करते हैं। फर्क यही है कि इनके पास अपना खेत नहीं है। हमारे सामने दो आदमी हैं— एक जो खेत पर काम नहीं करता लेकिन जिसके पास सैकड़ों—हजारों एकड़ जमीन है, दूसरा वह जो सब करता है लेकिन जिसके पास भूमि नहीं है। आज दृष्टि यह बनी हुई है कि एक ऐसे व्यक्ति को, जिसके पास सैकड़ों—हजारों एकड़ जमीन है लेकिन जो खेती में कोई काम नहीं करता, हम किसान मानते हैं लेकिन उन व्यक्ति को जो खेती में सारा कामकाज करता है किसान नहीं मानते, मजदूर कहते हैं। इस दृष्टि को बदलना होगा। किसान—आंदोलन को यह चुनना होगा कि इन दोनों में से कौन उसका दोस्त है— सैकड़ों—हजारों एकड़ वाला भूमिपति या दिन—भर मेहनत करनेवाला मजदूर ? किसानों को हदबंदी से घबराना नहीं होगा बल्कि शहरी हदबंदी के लिए लड़ना होगा।

भूमिहीन किसान और साधारण किसान में जो अलगाव है उसका एक पहलू आर्थिक और दूसरा पहलू सामाजिक है। सामाजिक पहलू कहीं—कहीं आर्थिक पहलू से भी ज्यादा नुकसानदेह है। आमतौर पर गांव में साधारण किसान मध्य और द्विज जाति का और भूमिहीन किसान हरिजन जाति का होता है। इस जातिगत अलगाव के कारण वे खेती या गांव की लड़ाई नहीं लड़ सकते। एक सफल किसान—आंदोलन के लिए इस जातिगत अलगाव को दूर करना होगा। मध्यजाति और जरिजन, द्विज और हरिजन के बीच सामाजिक बराबरी स्थापित करने के लिए किसान—संगठनों को अगुआ की भूमिका निबाहनी होगी। वे खेतों में पैदा करने के लिए साथ काम करते हैं इसलिए वे साथ, मिलकर खाना भी खाएं। अगर हम चाहते हैं कि शहर नहीं गांव हमारी सभ्यता और हमारे आर्थिक क्रिया—कलाप का केन्द्र बने तो हमें जाति—व्यवस्था को खत्म करना होगा। हम किसान—आंदोलन को सही दिशा में ले चलना चाहते हैं तो हमें यह कहना होगा कि किसान और मजदूर भाई हैं। वे अलग नहीं रहेंगे, एक साथ लड़ेंगे और एक साथ खाएंगे।

यह दुहरी लड़ाई होगी। एक विशाल तबके के तौर पर किसान को पूरी अर्थ—व्यवस्था और राजनीति में परिवर्तन की मांग करनी होगी दूसरी ओर उसे अपने भीतर भी

परिवर्तन लाना होगा। यह बाहरी और भीतरी परिवर्तन ही सही मायने में किसानों की क्रान्ति होगी।

शुरु में जहां हमारे साथी इन आंदोलनों में लगेंगे, उन्हें अलग ढंग से काम करना होगा, जैसे अपने इलाके में सर्वे करके पता लगाना होगा कि इलाके में कितने ऐसे परिवार हैं जो भरपेट नहीं खाते। किसान-आंदोलन के लिए एक छोटा फंड (कोष) भी बनाना होगा। यह देखना होगा कि गरीबी या अन्य किसी कारण से कोई भूखा न रहे। साल में कम-से-कम एक दिन सह भोज हो। जहां-जहां ऐसा कार्यक्रम चलेगा वहां कम्युनिस्ट भी किसानों को भूमिहीन किसानों (मजदूर) से अलग नहीं कर पाएंगे। ऐसा करके यह साबित किया जा सकता है कि किसान-आंदोलन एक कुलक-आंदोलन नहीं है वरन एक प्रगतिशील आंदोलन है। अभी जो यह आरोप लगता है कि किसान-आंदोलन कुलक-आंदोलन है तो वह आधा सही और आधा गलत है। आधा सही इसलिए है कि अधिकांश जगहों पर इन आंदोलनों के नेता धनी और बड़े किसान हैं और वे ग्रामीण समाज में किसी प्रकार के परिवर्तन की गांग नहीं करते। दूसरी ओर अधिकांश जगहों पर इन आंदोलनों गरीब किसानों का और कहीं-कहीं भूमिहीन किसानों (मजदूरों) का भी समर्थन प्राप्त है। इसलिए कुलक होने का आरोप आधा गलत है। आंदोलन का चरित्र रातोंरात बदला नहीं जा सकता। इसके लिए 4-5 साल मेहनत की जरूरत हैं। इसलिए प्रगतिशील और क्रान्तिकारी लोगों और समूहों को आंदोलन में लगाना होगा और इसके चरित्र को बदलने का प्रयास करना होगा।

राजनीतिक पार्टियां और किसान – आंदोलन :

अब राजनीतिक पार्टियों को इन आंदोलनों में शरीक करने का सवाल है। यह सच है कि पार्टियां इन आंदोलनों का फायदा उठाने का प्रयास करेंगी, जैसे तमिलनाडु के मुख्यमंत्री एम.जी. रामचन्द्रन ने तमिल किसान आंदोलन से सहानुभूति दिखाकर और उनसे वायदा करके उनका समर्थन प्राप्त किया और अब उनके प्रति दुश्मनी का रुख अपनाया है। कोई भी बड़ा नेता ऐसा कर सकता है। इसलिए बड़े नेता नहीं, पंचायत और प्रखंड स्तर के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को आंदोलनों में शामिल करना चाहिए।

बड़े नेता भ्रष्ट और बेमतलब हो गए हैं। देश को नये नेतृत्व की जरूरत है। नेतृत्व का नया समूह इन आंदोलनों और विद्यार्थी, मजदूर, आदिवासी आंदोलनों से उभरेगा। इसलिए राजनीति के हाथ में आंदोलन को सौंप देने की जरूरत नहीं है बल्कि आंदोलन से नही राजनीति गढ़ने की जरूरत है। इन आंदोलनों के नेताओं को अगला चुनाव लड़ने से रोकना होगा अन्यथा वे भी भ्रष्ट हो जाएंगे। जबतक आंदोलन का ठोस संगठन और सुस्पष्ट राजनीतिक दिशा न बन जाए तब तक उनके चुनाव लड़ने का सवाल नहीं उठाना चाहिए। इस बीच वे शासक तथा विरोधी दल दोनों पर दबाव डालने का काम करेंगे।

यह कहा जाता है कि चौधरी चरण सिंह किसानों के नेता हैं। वह किस प्रकार के नेता हैं, यह समझना जरूरी है। यह सही है कि गांधी और लोहिया जैसे नेताओं के बाद चरण सिंह ने ही किसानों की समस्याओं को असरकारी ढंग से उठाया लेकिन विडम्बना यह है कि वह किसानों की हालत सुधारने के बजाय प्रधानमंत्री होने में ज्यादा दिलचस्ती रखते हैं। चरण सिंह और मोरारजी भाई के झगडत्रं में सिद्धांत का सवाल नहीं दीखा। चौधरी साहब को यह कहना चाहिए था कि मोरारजी भाई, आप किसानों की भलाई के लिए अमुक-अमुक काम करें। यह मांग कर वह सरकार से हट सकते थे और किसानों का आंदोलन शुरू कर सकते थे। अगर वह ऐसा करते तो वह जनता पार्टी के नेता के तौर पर नहीं, एक बड़ें किसान-आंदोलन के नेता के रूप में गद्दी पर जमते। इसमें जरूर कुछ समय लगता।

चौधरी साहब जानते थे कि देश के बड़े पूंजीपति इन्दिरा गांधी के पीछे हैं। इसके बावजूद उन्होंने प्रधानमंत्री बनने के लिए इंदिरा गांधी का समर्थन लिया। बड़े पूंजीपतियों और उद्योगपतियों की लाबी के प्रभाव से जो सरकार बनेगी वह किसानों के अनुकूल व्यावस्था को कैसे बदली सकती है? इसलिए चालू व्यवस्था में ही भरोंसा रखनेवाले प्रधानमंत्री बन भी जाएंगे तो यह व्यवस्था नहीं बदलेगी।

जैसे-जैसे किसान-आंदोलन बढ़ेगा वैसे-वैसे सरकार ही नहीं, बड़े पूंजीपति तथा बड़े किसान उसे तोड़ने का प्रयास करेंगे। पहला तरीका होगा आतंक का, दूसरा तरीका

होगा नेताओं में से कुछ को खरीदने का और तीसरा होगा किसानों के एक तबके को संतुष्ट करने का। जहां तक एकाध व्यक्ति की दगावाजी का सवाल है उसे रोकने का कोई पक्का उपाय नहीं किया जा सकता। किसान एक ऐसा विशाल तबका है जिसमें से एकाध नेता दूसरी ओर चले भी जाते हैं। तो उसका विशेष असर आंदोलन पर नहीं होगा। सबसे खतरनाक बात यह है कि किसानों में ऐसा तबका है जिसका स्वार्थ अलग ढंग का है। इनको सरकार लालच देकर अपनी ओर करने का प्रयास करेगी, जैसे बागान-मालिक, व्यापारिक फसलों वाले किसान, जो प्याज, गुलाब और बढ़िया चावल जैसी विदेश भेजनेवाली चीजों का उत्पादन करते हैं। सरकार इनको धमकी देकर भी आंदोलन से हटाने का प्रयास कर सकती है। जैसे उन्हें कह सकती है कि तुमपर हदबंदी का कानून लगाएंगे या बहुत कमा रहे हो तुमपर टैक्स लगाएंगे या तुम्हें माल विदेश नहीं भेजने देंगे।

किसानों के बीच एक दूसरा तबका भी है जिससे उनको सावधान रहना पड़ेगा। इस तबके के लोगों का एक पैर गांव में और दूसरा शहर में रहता है। इनका व्यापार, मकान और परिवार के लोगों की बड़ी नौकरी शहर में होती है। इसका स्वार्थ शहर में ही ज्यादा रहता है। हमारा मतलब रिक्शेवाले, घरेलू नौकर और छोटी नौकरी वालों से नहीं है। शहर में स्वार्थ रखनेवालों को सरकार कह सकती है कि क्यों आंदोलन के फेर में हो। तुमको व्यापार का नया लाइसेंस दे देते हैं या और कोई अच्छी नौकरी दे देते हैं। इन तरीकों से वह इनको तोड़ सकती है। ऐसे लोगों या तबकों के हाथों में आंदोलन का नेतृत्व न रहे, इसके प्रति सचेष्ट रहना होगा। इसका एक ही तरीका हो सकता है कि संगठन को गांवों में फैलाया जाए और साधारण किसानों में से नया नेतृत्व निकाला जाए। दूसरे—इसके पहले कि सरकार हदबंदी आदि कानूनों का इस्तेमाल बड़े किसानों के खिलाफ शुरू करे, आंदोलन की तरफ से ही ऐसी मांगे आने लग जानी चाहिए जाकि साधारण किसानों का हित आंदोलन में झलकने लगे और उनके बीच से नेतृत्व पैदा होने लगे।

हिंसा-अहिंसा का सवाल:

सरकार द्वारा आतंक पैदा करने की हालत में हिंसा या अहिंसा की बहस उठ जाया करती है। यह बहस अक्सर भ्रम पैदा करती है। यह देखने के बजाय कि किसान-आन्दोलन हिंसा का सहारा लेगा या अहिंसा का; हमलोगों को दूसरे ढंग से इस सवाल को देखना चाहिए। किसान एक ऐसा तबका है जो लम्बे समय तक हिंसा का सहारा लेकर संघर्ष नहीं कर सकता है। ऐसा करने के लिए उसे अलग तरीके से संगठित होना पड़ेगा, हथियार जुटाने होंगे, छिपना होगा। ऐसा करके वह किसान नहीं रह जाएगा, बल्कि फौजी बन जाएगा। सवाल यह है कि बगैर हथियार के हम किसान आन्दोलन को कैसे शक्तिशाली और असरदार बना सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि किसान एक बहुसंख्यक तबका है तब उसके लिए छिपना या हथियार खोजना हास्यास्पद लगता है। जबतक तानाशाही कायम नहीं है तबतक किसानों के लिए दो रास्ते हैं— पहला यह कि वे शासक पार्टी पर असरकारी दबाव पैदा करें। वैसी हालत में भी जब सरकार उनके सवाल सुनने को तैयार नहीं हो तो किसानों को स्वयं अपने हाथ में सत्ता लेने के लिए तैयार रहना चाहिए।

अच्छी सरकार दो तरह की होती है – बगैर किसान के किसानों की हित वाली सरकार, फिर, किसान की सरकार। अभी हम पहले के लिए काम कर रहे हैं। अब सवाल यह है कि किसान अपने लिए कहां तक संगठित हैं। अगर किसान स्वयं संगठित नहीं हैं तो यह सवाल नहीं है कि सरकार सुन रही है या नहीं। किसान सचमुच संगठित हैं इसके तीन प्रमाण होंगे।

1. सामंती और पूंजीवादी किसान को छोड़कर बाकी किसान और मजदूर एक साथ हैं या नहीं।
2. मांगें स्पष्ट हैं या नहीं।

3. समस्याओं के हल के बारे में ठोस दिमाग और संकल्प है या नहीं। आप सोचते हैं कि वैसी हालत में सरकार आन्दोलन को अनसुना कर सकती है? अगर करती हैं तो आप स्वयं सरकार अपने हाथ में ले लें।

हम यह नहीं कहते कि अहिंसा पर कायम रहें। हम यह कहते हैं कि हिंसा का सहारा न लें। अहिंसा सम्भव है या नहीं? आदमी के बश की चीज है या नहीं? यह एक अलग बात है। अहिंसा के कई अर्थ हो सकते हैं लेकिन काररवाई के रूप में बुद्ध और अशोक के कई अर्थ हो सकते हैं लेकिन काररवाई के रूप में बुद्ध और अशोक ने भी कहा है कि दूसरे को न मारें। हम यही कहते हैं कि हम हत्या नहीं करेंगे या किसी की हत्या का षड्यंत्र नहीं करेंगे। एक बार जब हम फैसला कर लेते हैं कि हम किसी को नहीं मारेंगे तो हमारे सामने ऐसे कई तरीके आ जाते हैं जिनको शांतिपूर्ण कहा जाता है। अपने आन्दोलन को तेज करने के लिए हमें ऐसी कला सीखनी होगी कि किसी को मारने की जरूरत नहीं पड़े, भले स्वयं मर जाएं। यह महत्वापूर्ण सवाल है। शान्ति वाला संघर्ष यह नहीं करता कि संघर्ष में खून नहीं बहेगा। फरक यह है कि हिंसात्मक संघर्ष में दोनों पक्षों का खून बहता है और शांतिपूर्ण संघर्ष में सिर्फ संघर्षकारी का।

अब दूसरे ढंग से इस सवाल को देखें। हिंसा की क्यों जरूरत महसूस होती है? क्योंकि इसमें ताकत है। लेकिन आप यह बताएं कि एक राइफल में ज्यादा ताकत है या दस हजार लोगों में? हमारा मतलब शारीरिक ताकत से है। अगर कोई सरकार एक समय तक हमारी बात नहीं सुनती है तो हम कह सकते हैं कि हम अपने इलाके में कोई सरकार नहीं चलने देंगे, टैक्स नहीं देंगे। हम स्वयं अपना प्रशासन चलाएंगे। सरकारी दफ्तर को घेर लेंगे। उसे बन्द होने के लिए मजबूर कर देंगे। अब आप तय करें कि किसमें अधिक ताकत है। राइफल में या इस तरीके में?

जबतक देश में किसान-आन्दोलन नहीं था तबतक बहुत लोगों की राय थी कि यहां समाजवादी क्रान्ति कम्युनिस्ट तरीके से ही आ सकती है जिसका परिणाम तानाशाही में होगा। किसान-आन्दोलन के बाद ऐसा विश्वास बन रहा है कि शांतिमय तरीके से भी

समाजवाद संख्यक नहीं हैं। हमें अपना कौशल ऐसा बनाना होगा जिससे हम शहर के गरीबों की सहानुभूति पा सकें और हमारी काररवाई से सिर्फ निहितस्त्रार्थी और सरकार का ही नुकसान हो।

समता संगठन के लिए शिवानन्द तिवारी द्वारा प्रकाशित तथा समता प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, पूर्वी लोहानीपुर, पटना-3 द्वारा मुद्रित।